

भगवत् प्राप्त का सुगम और अनुभव-सिद्धमार्ग



आराध्य - युगल सरकार

महाभाव रस निमग्न
श्रीहनुमानप्रसादजी पोदार

- विष्णुहरि डालमिया

(भगवत्प्राप्ति का सुगम और अनुभव-सिद्ध मार्ग)

प्रस्तावना

मुझे कुछ समय पूर्व पूज्य श्रीताऊजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के प्रवचन की एक 'ऑडियो कैसट' प्राप्त हुई थी, जो भगवत् शरणागति के संबंध में थी । इस कैसट को सुनकर मेरे हृदय में यह भाव प्रस्फुटित हुआ कि भगवत्-प्राप्ति का कितना सीधा और सरल मार्ग पूज्य श्रीताऊजी द्वारा बताया जा रहा है, जिसे अधिक से अधिक लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये, जिससे वे आध्यात्मिक जगत् के मार्ग पर चलने में लाभान्वित हो सकें । सबको यह विदित है कि पूज्य श्रीताऊजी (पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) इस युग के आध्यात्मिक महाविभूति रहे हैं । इस दृष्टि से मैंने इसे प्रकाशित करवाया है । आशा है, लोगों को इससे कुछ दिशा-निर्देश प्राप्त होंगे, जो उन्हें प्रभु की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध होंगे ।

-विष्णुहरि डालमिया

शरणागति

(नित्य लीलालीन श्रद्धेय 'भाईजी' श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

शरणागति में इस बात का विचार नहीं किया जाता है कि शरणागत होने वाला किस प्रकार का साधक है । उस में तो केवल एक ही बात देखी जाती है कि वह भगवान् के शरणागत सम्पूर्ण रूप से होना चाहता है या नहीं । भगवान् की शरणागति के लिये, भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसमें अमुक-अमुक प्रकार के बाहरी गुण होने चाहिये । जिसमें बाहरी गुण हों केवल वही भगवान् की शरणागति प्राप्त कर सकता है—ऐसी बात नहीं है । कैसा भी हो? किसी श्रेणी का हो, किसी वर्ग का हो, किसी वर्ण का हो, किसी जाति-देश का हो, उसने पहले कुछ भी किया हो, उसकी अब तक की जीवनचर्या कैसी भी रही हो, इस समय—वर्तमान में वह यदि सचमुच अपने दैन्य का अनुभव करता हुआ, अपनी दीनता, अपनी साधन-हीनता, अपने मन की मलिनता, अपनी सब प्रकार की अयोग्यता, अपनी आसक्ति—इन सबका अनुभव करता हुआ जो सर्वसमर्थ, परम सुहृद्, अकारण स्नेह करने वाले भगवान् के श्रीचरणों में अपने को डाल देता है बिना किसी शर्त के, केवल भगवान् की कृपा के भरोसे, अपने साधन के भरोसे नहीं तथा अपनी शक्ति और अपनी योग्यता के भरोसे नहीं, अपने किसी पुरुषार्थ के बल के भरोसे नहीं, अपने किसी धर्म-कर्म के भरोसे नहीं केवल भगवान् की कृपा के भरोसे, विश्वासपूर्वक उस कृपा पर आस्था करके अपने को जो भगवान् के श्रीचरणों में डाल देता है तब भगवान् यह नहीं देखते कि यह पहले कैसा था? यह किस जाति का है? किस धर्म का है? इसके अब तक के आचरण कैसे हैं? यह सब भगवान् नहीं देखते हैं। बस,

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥

(रा०च०मा०/सु०/४४-२, १)

भगवान् कहते हैं कि जिसकां करांडों ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगा हो उसका भी, शरण में आने पर मैं त्याग नहीं करता— 'तजऊं नहिं ताहू ।' इसलिये, भगवान् की शरणागति के लिये केवल भगवान् की कृपा पर विश्वास ही परम और चरम साधन है । भगवान् की कृपा पर विश्वास और अपने दैन्य का ठीक परिचय । सब तरह से—सब प्रकार से अपनी दीनता का, अपनी हीनता का पूर्ण परिचय, पूर्ण ज्ञान और भगवान् की अहैतुकी कृपा में पूर्ण विश्वास—बस, शरणागति का यही साधन है ।

इस प्रकार जो भगवान् की शरण में जाते हैं फिर भगवान् उनको कुछ नहीं कहते हैं । वे अपनी शरण में रखकर के पवित्र कर लेते हैं, पावन कर लेते हैं । अब तक जो बात हुई वह हम सरीखे लोगों की बात हुई जिनमें कोई बल नहीं है । परन्तु कुछ भक्तों का बड़ा सुन्दर कहना है कि हम जिस धाम में भगवान् को विराजित करना चाहते हैं, हम जिस मन्दिर में भगवान् की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, हम जहाँ भगवान् को बुलाकर बसाना चाहते हैं वह स्थान गन्दा क्यों रहे ? यद्यपि गन्दगी वे साफ कर देते हैं; यह तो उनकी कृपा है । परन्तु क्या हम किसी गन्दी चीज को लेकर अपने परम प्रेमास्पद प्रियतम प्रभु को ग्रहण करने के लिये उनसे कहें ? यद्यपि वे इसे कृपापूर्वक ग्रहण कर लेंगे परन्तु यह उचित नहीं है । भगवान् जो परम मंगलमय हैं, परम कल्याणमय हैं, परम पवित्र हैं उन भगवान् के सामने जाकर हम उनसे कहें कि हम गन्दगी से भरे हैं आप हमें ग्रहण कर लीजिये । यद्यपि वे ग्रहण कर लेंगे परन्तु यह उचित नहीं है । इसलिये क्या करें ? भगवान् की कृपा यहाँ भी कार्य करती है। उनकी कृपा के बल पर हम अपने को विशुद्ध करें । यह विशुद्धि भी शरणागति का ही एक अंग है। यह विशुद्धि क्या है ?

शरणागत—शरण में जाने वालों के लिये तीन बातों की

आवश्यकता होती है । प्रथम बात—शरण्य भगवान् के अतिरिक्त दूसरे किसी में भी शरण्यता का भाव न होना। किसी अन्य प्राणी में, पदार्थ में, देवता में, साधन में अथवा किसी अन्य में भी शरण्यता का भाव न होना । भगवान् के सिवाय और कहीं भी मुझे शरण मिल सकती है—इस प्रकार की भावना का न रहना । इसी का नाम है—भजते मामनन्यभाक् (गीता ९/३०)— माम् अनन्यभाक् भजते । दूसरे को हिस्सा न दे । 'भगवान् के सिवाय दूसरा कोई शरण देने वाला है'—इस प्रकार की कल्पना मन में न रहे। कोई साधन, कोई देवता, कोई इष्ट या अन्य कोई भी चीज मन में न रहे । दूसरी बात—भगवान् की शरण्यता में पूरा विश्वास हो कि भगवान् जब शरण में ले लेंगे तब हमारे लिये कोई चिन्ता या कोई भय नहीं रह जायेगा । अगर मन में यह चिन्ता और भय है कि शरण तो होते हैं परन्तु कुछ और करना पड़ेगा । बिना कुछ किये कैसे काम चलेगा तो इसका अर्थ है कि शरण्य में विश्वास नहीं है । तीसरी बात—हम जिसके शरण होना चाहते हैं उसके सामने किसी भी प्रकार की कोई भी अपनी माँग मत रखें । अपनी कोई माँग बिल्कुल न रहे ।

ये तीन बातें शरणागत होने वाले में होनी चाहिये । यदि ये तीनों बातें हैं तब अन्तःकरण की विशुद्धि हो जाती है । इनके आते ही जितने पाप हमसे बनते हैं वे दूर होने लगते हैं । यह बिल्कुल सैद्धान्तिक बात है कि जिस प्रकार एक और दो मिलकर तीन होते हैं, दो और दो मिलकर चार होते हैं उसी प्रकार जब हम भगवान् की शरण में जाना चाहते हैं उसी समय हमारे जीवन में रहने वाले पाप भागना शुरू कर देते हैं। वे रह ही नहीं सकते । जब हमने निश्चय कर लिया कि 'एकमात्र भगवान् ही हमारे शरण्य हैं और हम उन की शरण में जा रहे हैं' तब जितने भी भोग पदार्थ हैं, जितने भी काम्य पदार्थ हैं उन सबका आश्रय मन

स हट गया और, जहाँ व हट वह सारा पाप हट गया, सारा दुराचार हट गया। यह सिद्धान्त है कि हमारे द्वारा जो कुछ भी, जब कुछ भी बुराई होती है, पाप होता है, और अनर्थ होता है तब उसका एकमात्र कारण है—भोग-कामना—भोगों का आश्रय—भोगों की शरण्यता में विश्वास। 'संसार के भोग हमें सुख दे देंगे'—इस प्रकार की भ्रान्त धारणा। यह धारणा जब तक बनी है तब तक मनुष्य बच नहीं सकता अनर्थ से, बच नहीं सकता दुराचार से, और बच नहीं सकता है पाप से। जब इनकी शरण्यता मन से दूर हो गयी और एकमात्र भगवान् को शरण्य मानकर हम चले चलें उनकी ओर फिर ये हो नहीं सकते।

वल्लभ सम्प्रदाय का एक बड़ा सुन्दर मन्त्र है—'श्रीकृष्णः शरणं मम्'। यह मन्त्र ही रह गया है। अब भाव बहुत कम लोगों में है। यह मन्त्र कितना सुन्दर है कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र मेरे शरण्य हैं। वही एकमात्र मेरे आश्रय हैं, और कोई भी आश्रय नहीं। अन्याश्रयत्व का सर्वथा परित्याग इसमें है।

अन्य आश्रय—अन्य देवता का आश्रय, अन्य वस्तु का आश्रय, भोग वस्तु का आश्रय, किसी प्राणी का आश्रय, किसी स्थिति और अवस्था का आश्रय—ये सारे के सारे अन्य आश्रय हैं, दूसरों के आश्रय हैं। जब तक दूसरों का आश्रय है, जब तक भोगाश्रय है, जब तक संसार के पदार्थों और प्राणियों का आश्रय है तभी तक अन्तःकरण अशुद्ध है। तभी तक अन्तःकरण में पाप और पाप की भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। जब अन्याश्रयत्व का त्याग हो गया और एकमात्र भगवान् का आश्रय हमारे मन में आ गया फिर उसके बाद उसी समय से ही ये जितने भी अनर्थ हैं—काम, क्रोध, मोह और लोभ आदि शत्रु ये सबके सब शत्रु चले जायेंगे, भाग जायेंगे। और, कहीं रहेंगे भी तो अनुगत होकर रहेंगे, सहायक होकर रहेंगे। फिर एकमात्र कामना मन में होगी कि

भगवान् की शरण हमें तुरन्त प्राप्त हो जाय । एकमात्र क्रोध मन में होगा कि क्यों देर हो रही है ? झुंझलाहट अपने पर होगी । भगवान् के चिन्तन का लोभ होगा कि क्यों कम चिन्तन होता है, और होना चाहिये । भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य से मोह होगा । उसके देखे बिना चैन नहीं पड़ेगा । भगवान् के सेवकत्व का मद होगा । इस प्रकार ये जितने भी अनर्थ हैं वे सब-के-सब हमारे सहायक बनकर भगवान् की ओर जाने वाली हमारी गति में जोर-बल देने वाले बन जायेंगे ।

इसलिये अन्याश्रयत्व का त्याग-अन्तःकरण की विशुद्धि में परम सहायक है । काम-क्रोधादि का अलग से नाश करने की आवश्यकता नहीं है । जब तक भोगाश्रय है तभी तक काम-क्रोध रहेंगे । जब भोगाश्रय ही नहीं है—भोगों से कुछ लेना-देना ही नहीं है तब भोगों की कामना कैसे रहेगी ? जो लोग मांसाहारी नहीं हैं वे कभी मांस की कामना करते हैं क्या ? हिन्दू मात्र कभी गोमांस नहीं खाता है तो क्या कभी वह गोमांस की कामना करता है ? उसके लिये यह बुरी-से-बुरी चीज है। उसका नाम नहीं लेना चाहता है, सुनना नहीं चाहता है और उसे देखना नहीं चाहता है। इसी प्रकार जब भोगाश्रय नहीं रहेगा तो भोग-कामना नहीं रहेगी। भोग-कामना नहीं रहेगी तब कामना की पूर्ति न होने पर लगने वाली चोट से होने वाला क्रोध नहीं होगा। क्रोध नहीं रहेगा तो कामना की पूर्ति से होने वाला लोभ नहीं आयेगा । काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल खल हैं । ये नरक के दरवाजे हैं ये नहीं रहेंगे तब अन्तःकरण विशुद्ध हो जायगा । अन्तःकरण की विशुद्धि के लिये अलग से कुछ करना नहीं पड़ेगा। फिर मन में शरणागति हो गयी । यह एक भाव है ।

दूसरा भाव है कि जो प्राप्त करने की वस्तु है इसीको लेकर सारा प्रपञ्च चलता है । प्राप्त होने योग्य वस्तु हमारी दृष्टि में क्या

है ? संसार के भांग। और, साधक की दृष्टि में प्राप्तव्य क्या है ? भगवान् । चैतन्य महाप्रभु ने अपने अष्टक में कुल आठ श्लोक कहे हैं । एक-एक श्लोक एक-एक साधन का मन्त्र है। उन्होंने बहुत सुन्दर कहा है—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।

शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥

(अष्टक ७)

इस अष्टक में भगवान् को प्राप्त करने वाले की चित्तवृत्ति कैसी होनी चाहिये ? भगवान् के न आने पर किस प्रकार का जीवन का भाव होना चाहिये, भगवान् के विरह में क्या स्थिति होनी चाहिये इसका संकेत है । वे कहते हैं—‘युगायितं निमेषेण’—एक-एक निमेष अर्थात् आँख की पलक जितनी देर में पड़े उतना समय एक निमेष, मेरे लिये एक-एक युग हो गया है और ‘चक्षुषा प्रावृषायितम्’—मेरी आँखें, वर्षा ऋतु बन गयी हैं । निरन्तर बरसती रहती हैं तथा ‘शून्यायितं जगत् सर्वं’—सारा जगत् मेरे लिये सूना हो गया है । ‘गोविन्दविरहेण मे’—गोविन्द के विरह में । गोविन्द के वियोग में, भगवान् के अमिलन में, प्रेमास्पद की विरह-व्यथा में क्या दशा होती है ? एक-एक निमेष युग के समान व्यतीत होता है । एक निमेष भी सहन नहीं होता है। श्रीमद्भागवत के गोपीगीत में श्रीगोपांगनाएँ कहती हैं—

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ॥

(श्रीमद्भागवत १०/३१/१५)

जब श्यामसुन्दर वन से लौटकर ब्रज में आते हैं उस समय हम उन्हें देखा करती हैं । परन्तु बीच में पलकें पड़ जाती हैं । ब्रह्मा ने पलकें क्यों बना दी ? विधाता ने बड़ी गलती की जो पलकें बना दीं । क्योंकि एक-एक पलक पड़ने का समय हमारे लिये एक युग के समान हो जाता है । पलकें पड़ने के समय का

जो अदर्शन है प्रियतम का वह अदर्शन हमारे लिये युग के समान हो जाता है—त्रुटिर्युगायते ।

इस प्रकार जब चित्त में भगवान् के अमिलन का उत्ताप—संताप जाग उठता है उस समय अन्तःकरण में क्या अशुद्ध चीज रह सकती है ? उस समय क्या जगत् की वस्तुएँ, जगत् के प्राणी-पदार्थ, जगत् के भोग उसके चित्त को खींच सकते हैं ?

चैतन्य महाप्रभु घर से निकल गये । घर में नवयुवती स्त्री थी जो उनका दूसरा विवाह था । परन्तु भगवान् के प्रति ऐसी पुकार कि हृदय में आग जल उठी । वह आग अब कौन-सी दूसरी चीज को रहने देगी ? अन्तःकरण में भोग, भोगों के दृश्य, भोगों को प्राप्त करने की इच्छा-कामना और भोगों की प्रतीक्षा वहीं होती है जहाँ भोगाश्रय होता है। यहाँ तो हृदय में आग लग गयी गोविन्द को प्राप्त करने के लिये । इस जलती हुई आग में यदि कहीं कोई भोग का मनोरथ रहा होगा अथवा किसी प्रकार की दूसरी भावना तो वह भस्म हो जायेगा । हम संसार में देखते हैं कि जब किसी एक विषय में हमारा मन अत्यन्त लग जाता है और उसको प्राप्त करने में मन अत्यन्त आतुर हो उठता है उस समय क्या मन में कोई और चीज रहती है ? हम सबका यह अनुभव है । जीवन में जब कभी भी किसी वस्तु के लिये जो नाशवान् है, जो प्राप्त होने पर रहेगी नहीं और जो अपूर्ण है; ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये हमारे मन में जब एकान्त लालसा जाग उठती है, हृदय व्याकुल हो उठता है उस समय क्या जगत् के अन्य पदार्थ याद रहते हैं ? क्या जगत्का खेल-तमाशा हमें अपनी ओर खींच सकता है ? क्या जगत् का सौन्दर्य-माधुर्य हमारे मन को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है ? कदापि नहीं । मन विशुद्ध हो जाता है एक में लग करके ।

इसी प्रकार जब भगवान् का विरह जाग उठता है तब

अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है । विरह ही जगाना है साधन के द्वारा, और कुछ नहीं करना है । भगवान् की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। अपितु भगवान् की प्राप्ति के लिये हृदय में संताप का जाग जाना ही दुर्लभ है । यह संताप जब जाग गया, हृदय में इस प्रकार की एक ज्वाला जब जग उठी, जो ज्वाला सारी कामनाओं को, सारी वासनाओं को, सारी स्पृहाओं को, सारी आकांक्षाओं को और सारी तृष्णाओं को सब प्रकार से निरस्त कर देगी, खा जायेगी, जला देगी तब अन्तःकरण अशुद्ध कहाँ रहेगा ? अन्तःकरण की अशुद्धि कोई चीज नहीं है यदि उसमें भगवत्-विरह की आग डाल दी जाय । कूड़े में आग डाल दी जाय तो कूड़ा कितनी देर रहेगा ? वह कूड़ा आग बन जायेगा ।

इसी तरह भगवत्प्रेम-प्राप्ति की, भगवत्प्राप्ति की हृदय में आग जला देनी चाहिये। यही परम साधन है । और, यह आग जल सकती है । कैसे, चैतन्य महाप्रभु जैसे, मीरा जैसी, अन्डाल जैसी, श्रीनरसी मेहता जैसी और श्रीगोपाँगनाओं जैसी । इन महात्माओं के भावों को समझकर और उनका पदानुसरण करने से अपने-आप यह चीज हृदय में जाग उठेगी । और, जागते ही, जागते ही क्या इसका आभास आते ही ये मन के जितने भी पाप हैं वे तिलमिला उठेंगे। ये उस हृदय में रह ही नहीं सकते जिस हृदय में भगवान् आना चाहते हैं । उस हृदय से ये पहले ही भाग खड़े होंगे । इनको निकालना नहीं पड़ेगा, ये अपने-आप निकल जायेंगे । परन्तु होनी चाहिये भगवान् को, भगवत्प्रेम को प्राप्त करने की सच्ची और अदम्य लालसा । यदि उसमें कहीं गड़बड़ी हो, भगवान् के नाम पर मन में कहीं भोग हो, भगवान् के नाम पर मन में कहीं जगत् हो, भगवान् के नाम पर यदि किसी प्रकार की भौतिक सुख-लालसा हो तब मामला कठिन है । वहाँ चीज नहीं बनेगी ।

जब मन में जगत् की ये चीजें नहीं है और भगवान् की

लालसा जागी तब भगवान् क्या करते हैं ? भगवान् उस हृदय को अपना निवास-स्थान बना लेंते हैं । यह पता ही नहीं लगता है कि भगवान् हैं या नहीं । क्यों नहीं लगता है ? इसलिये कि जिसको पता लगता है होने का वह भगवान् का बन जाता है । जो चित्त भगवान् की अवस्थिति का अनुभव करता है वह चित्त ही अपने पास नहीं रहता है । वह चित्त भगवान् की सम्पत्ति बन जाता है । इसके बाद क्या होता है, उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है । जिसे 'महाभाव' कहते हैं वह यही अवस्था है । वैष्णवों ने जिसे 'महाभाव' कहा है वह यही है कि चित्त का सर्वथा और सर्वदा प्रेमास्पद के अधीन हो जाना । चित्त-सम्पत्ति अपनी नहीं रहती है । श्रीनारायण स्वामी ने एक पद गाया है—

“तुम्हारे अक्षत गयो मन मेरो कहूँ तो थाह लगाओ !”

उन्होंने कहा—अरी आँखो ! तुम तो पहरेदार थीं न ! तुम दोनों पहरे पर बैठी हुई थीं और तुम्हारे देखते-देखते वह मेरे मन को चुरा ले गया । तुम्हें कुछ तो पता लगाना चाहिये था ? अन्त में बोले—

‘नारायण मुझे वस्तु न चाहिये लेवनहार दिखाओ ।’

उन्होंने आँखों से कहा—आँखो, सुनो ! कोई बात नहीं है, ले गया सो ले गया। अब मुझे उस वस्तु की आवश्यकता नहीं है परन्तु कौन ले गया है उसे जरा दिखा दो ।

चित्त का सर्वथा प्रेमास्पद के अधीन हो जाना, प्रेमास्पद की सम्पत्ति बन जाना—इस अवस्था में चित्त का नाश नहीं होता है । चित्त अचित्त नहीं होता है, चित्त मरता नहीं है अपितु भगवत्-सम्पत्ति बन जाता है । फिर, उस चित्त में भगवान् कार्य करते हैं । तब, वहाँ पर क्या होता है ? ये जितनी भी भगवान् की लीलायें हैं, जिन लीलाओं को देखकर, सुनकर, पढ़कर हम सुखी होते हैं, कहीं मोहित होते हैं और कहीं जरा संकोच में पड़ जाते हैं कि हमारे भगवान् की ऐसी बात, वे लीलाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

आजकल बहुत अच्छे लोग जो देश का परमहित चाहते हैं और जो प्राचीन गौरव को बनाये रखना चाहते हैं, अच्छी नीयत रखते हैं वे लोग भी जब ऐसी बात को देखते हैं तो कहते हैं कि विदेशी क्या कहेंगे ? इसलिये इस बात को क्षेपक बताते हैं । वे कहते हैं कि यह चीज तो नहीं थी, यह बाद में जोड़ी गयी है । ये हमारा नहीं है । हमारा तो परम पवित्र था । वे विश्वासपूर्वक यह नहीं कहते कि जो था वह है और यह पवित्र है तथा इसके पवित्र होने का भाव यह है । किसी ने मुझसे कहा कि शंकराचार्य आदि ने पुराणों को रूपक माना है । मैंने कहा—रूपक नहीं माना है। उन्होंने सिद्धान्त से भले ही कह दिया हो कि ये व्यावहारिक सत्ता की बातें हैं । परन्तु व्यावहारिक सत्ता में ये बातें न हुई हों यह कोई भी नहीं कहते हैं । ये रूपक नहीं हैं, ये सब सत्य हैं।

भगवान् की लीलाओं में जो मिलन है—सखाओं से भगवान् का मिलन, माताओं से भगवान् का मिलन, सखियों से भगवान् का मिलन और शत्रुओं से भगवान् का मिलन । इसे कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् के न माता हैं, न पिता हैं, न सखा हैं और न ही शत्रु हैं तो क्या भगवान् दम्भ करते हैं ? लोगों को दिखाते हैं ? नहीं, इसे हम दम्भ नहीं कह सकते हैं । फिर, क्या यह झूठी बात है ? यह झूठ भी नहीं है । फिर, यह क्या है ? यह भगवान् की प्रेमाधीनता है । भगवान् की भक्तवत्सलता है । भगवान् की लीलामयता है । भगवान् का यह एक क्रीड़ा-सुख है और सत्य है, दम्भ नहीं है ।

भगवान् की लीला सखाओं के साथ होती है । छोटे बच्चों के साथ बालकों जैसी। सखाओं से गले मिलते हैं मित्रों की तरह। अर्जुन के लिये अग्नि और इन्द्र से वरदान माँगते हैं कि हमारा प्रेम बढ़ता रहे । भला, यह भी कोई बात है कि भगवान् कह देते हैं कि पाण्डवों के वैरी मेरे वैरी और पाण्डवों के मित्र मेरे मित्र हैं।

भगवान् में क्या राग-द्वेष आ गया ? राग-द्वेष न हो तो क्या कोई ऐसी बात कह सकता है कि अमुक मेरा वैरी और अमुक मेरा मित्र है। यह क्या बात है ? यह राग-द्वेष नहीं है। यह भगवान् की प्रेमाधीनता है। भगवान् का यह बड़ा सुन्दर लीला का भाव है। इस लीला में विचित्र-विचित्र बातें होती हैं। उन बातों को देख-सुनकर बहुत बार लोगों को ऐसा सन्देह हो जाता है कि यह भगवान् नहीं है बल्कि कई बार अपने भगवान् की बात लोगों से कहने में शर्म मालूम होती है कि भगवान् के लिये ऐसी बात कैसे कहें ? भगवान् ने गोपियों के घरों में जाकर माखन चुराया—यह बात कैसे कहें ? भगवान् में चोरी की बात कैसे कहें ? भगवान् सखाओं से लड़ लिये और लड़कर रूठकर सो गये—यह बात कैसे कहें ?

एक बार की बात है कि भगवान् सखाओं के संग वन में खेल रहे थे। बछड़े अलग चर रहे थे और इधर सब ग्वाल-बाल खेल रहे थे। खेल में दो बातों का ध्यान रखा जाता था। यह समझने की बात है। श्रीकृष्ण को सुख न हो—ऐसी कोई क्रिया सखा नहीं करता था, स्वाभाविक है। यदि गाली भी देता था तो इसलिये कि उन्हें सुख होगा। रूठता भी इसलिये था कि इससे श्रीकृष्ण को सुख होगा। धक्के भी देता था तो इसलिये कि इसे सुख होगा न कि अपने सुख के लिये। एक बार खेलते हुए इनके मन में सोने की इच्छा हुई। सखाओं ने पत्ते की शय्या बना दी और शय्या पर भगवान् सो गये। श्रीदाम ने कहा—मेरी जाँघ पर सिर रखकर सो जाओ। उन्होंने कहा—नहीं, पत्थर पर सिर रख लेते हैं। फिर, श्रीदाम ने कहा—नहीं, पत्थर कठोर है। मेरी जाँघ पर सिर रखकर सो जाओ। उसने अपनी जाँघ पर सिर रखकर सुला दिया। कुछ साथी बच्चे चरण दबाने लगे। कुछ पत्ते लेकर हवा करने लगे। कुछ ठंडा-ठंडा जल लाये और उसमें कपड़ा धिगोकर इस प्रकार करने लगे कि महीन-महीन ठंडी बूँदें श्यामसुन्दर

क शरीर पर पड़ा और उनका ठंडा लग। उस समय वह गरमा थी, लू चल रही थी। इस प्रकार बड़ी सुन्दर संघा हो रही है। यह सेवानन्द लेते हुए श्रीकृष्ण के मन में एक बात आयी कि इसमें तो बड़ा सुख मिला अब इसकी वामदिशा में—इन सखाओं को भी सुख मिलना चाहिये, तो हम इनसे लड़ लें। सेवा करने वाले से लड़ लें? खेल-खेल में हम इनसे लड़ लें फिर ये रूठ जायँगे। तब हम इनको मनायेंगे फिर इन्हें आनन्द आयेगा। यह संकल्प भगवान् ने किया। अब इसमें बुद्धिवादी लोग सोचेंगे कि ये कैसे भगवान् कि जो दार्शनिक बातें नहीं सोचते, सृष्टि की क्रिया नहीं सोचते, जगत् क्या है, ब्रह्म क्या है यह नहीं सोचते। जो अपने स्वरूप में नित्य स्थित है, जो स्वरूप से कभी विचलित नहीं होते वे भगवान् भला, ऐसी बात कैसे सोचेंगे? परन्तु, इन्हीं बातों में तो भला है, आनन्द है, मजा है, वे तत्त्व की बातें दूसरी हैं।

भगवान् के मन में संकल्प आते ही क्रिया शुरू हो गयी। यहाँ उलटी चीज है। सेवा करने वाले का उपकार मानना तो दूर रहा, सेवा करने वाले को धन्यवाद देना तो दूर रहा उलटे उन्हीं से लड़ने लगे। बुद्धिवादी कहेंगे भगवान् में यह क्या है? यह कोई सीखने वाली बात है—यह आदर्श नहीं है। यहाँ तो आदर्श की बात ही नहीं है। यह लोकसंग्रही भगवान् जो हैं वे कुछ अलग हैं। यहाँ तो खेलने वाले भगवान् हैं। फिर, इन्होंने क्या किया कि जिस श्रीदाम ने अपनी जाँघ पर इनका सिर रखकर सुलाया था उससे पहले बिगड़े। उन्होंने रोषपूर्वक कहा—श्रीदाम ! तुम्हारी जाँघ ऊँची है, मेरा सिर दुखने लगा। यहाँ से हटो। उसने कहा—भैया ! मेरी जाँघ ऊँची नहीं है और बड़ी मुलायम है तुम थोड़ा सिर नीचे कर लो। श्रीकृष्ण ने कहा—नहीं-नहीं, तुम यहाँ से भागो। उसे भगा दिया। अब, जो बेचारा पंखा झल रहा था उससे कहा—यह तुम क्या कर रहे हो? यह जो पत्तों से पंखा झल

रह हा, य पत्त जाकर मर शरीर में लगत हैं । यह मुझे अच्छा नहीं लग रहा है । तुम यहाँ से जाओ । उसे भी भगा दिया । जो पैर दबा रहे थे उनसे कहा—तुम्हारे हाथ बड़े कठोर हैं इनसे मेरा चरण दबाते हो तो मुझे दर्द होता है । तुम भी भाग जाओ यहाँ से । और, पानी की फुहारें डालने वालों से कहा—यहाँ मैं आराम से सो रहा हूँ, क्या तुम मुझे भिगोना चाहते हो ? चले जाओ यहाँ से । अब चारों रूठ गये और बोले—हम तुम से नहीं बोलेंगे । अब से हमारी—तुम्हारी कुट्टी । वे अलग जाकर बैठ गये और शेष सखाओं को बुलाकर कहा—आज से सभी श्रीकृष्ण का बहिष्कार कर दें । हम लोगों का अपना अलग दल रहेगा । यह तो सेवा करने वाले के साथ उलटा व्यवहार करता है । सखा रूठ गये तो थोड़ी देर तक तो इन्होंने धैर्य रखा फिर उनसे रहा न जाय । अब मनायें कैसे ? थोड़ा रुककर उनके सामने गये और बोले—भैया ! मुझसे भूल हो गयी उस समय मैं नींद से उठा और गरमी लग रही थी। मुझ से भूल हो गयी, तुम सब मान जाओ । सब का मनुहार करने लगे लेकिन कोई माना नहीं । सब एकदम रूठ गये थे और तय कर लिया था कि आज इसको ठीक करना है । लेकिन श्रीकृष्ण के मन में था कि इन्हें दुःख न हो । दोनों के मन में एक ही चीज है कि इन्हें दुःख न हो, इन्हें सुख मिले— 'तत्सुखसुखित्वम्' (नारदभक्तिसूत्र/२४) । श्रीकृष्ण ने सखाओं को बहुत मनाया, बहुत मनाया । उनके पैर दबाये, हाथ दबाये और कहा—भैया ! अब ऐसा नहीं करूँगा । परन्तु वे मानने के लिये तैयार नहीं हुए। जब वे नहीं माने तब श्रीकृष्ण ने उन्हें मनाने का दूसरा उपाय सोचा। वे उनसे अलग दूर जाकर लगे जोर-जोर से रोने । बोले—अरे ! बिच्छू काट लिया— बिच्छू काट लिया । अब, सभी सखा बोले—अरे ! श्रीकृष्ण को बिच्छू काट लिया, दौड़ो । अब, किसी के मन में धैर्य नहीं रहा और सभी सखा दौड़कर श्रीकृष्ण

के पास पहुँचे । बोलें—अरे, हम तो बड़े पापी हैं, दुरात्मा हैं । यह तो हमें मनाने आया था। यदि हम मान गये होते तब यह क्यों रूठता और फिर इसे बिच्छू क्यों काटता । यह हमारी ही नालायकी है । हे विष्णु भगवान् ! हे नारायण !! हमारे कन्हैया को जल्दी आराम दो । श्रीकृष्ण ने कहा—इस प्रकार नहीं । तुम सब आओ और आकर मेरे पैर पर हाथ फिराओ, जल छिड़को, हवा के लिये पंखा चलाओ और श्रीदाम आकर अपनी जाँघ पर मुझे सुलाये तब आराम होगा । सभी ने वैसा ही किया । वही पूर्व का दृश्य फिर उपस्थित हो गया, ज्यों-का-त्यों । उन्हें आराम तो होना ही था । इस लीला में कोई दार्शनिक तत्त्व देखें, तत्त्ववेत्ता तत्त्व खोजे तो वह कहेगा कि व्यर्थ का समय खोया । इससे क्या कोई लाभ हुआ ? लेकिन यह लीलानन्द है ।

एक होता है उपयोगितावाद । आज का युग उपयोगितावादी है । माता-पिता बूढ़े हो जायँ तो कहेंगे कि अब ये उपयोगी नहीं हैं । सर्वोच्च न्यायालय ने गोहत्याकाण्ड में एक फैसला दिया है। उस निर्णय में कहा गया है कि गोहत्या नहीं होनी चाहिये । गोहत्या करने का मुसलमानों का कोई अधिकार नहीं है । परन्तु जो अनुपयोगी पशु-बैल, साँड़ हैं उन्हें काटने में कोई हर्ज नहीं है । यह है उपयोगितावाद । यही बात आज के हमारे अर्थशास्त्री कहते हैं कि इतनी गायें जो सरप्लस (surplus) हैं, जो काम की नहीं हैं, जो निकम्मी हैं उन्हें काट डालना चाहिये क्योंकि वे उपयोगी नहीं हैं ।

इसी प्रकार धर्म में भी उपयोगितावाद होता है । लोग कहते हैं कि कौन-सा आदर्शवाद ठीक है उसे देखो । किससे लोकापवाद हो रहा है, वह देखो उसे अपनाओ, कौन-सी चीज चलने योग्य है, वह देखो । यह उपयोगितावाद है ।

भगवान् की लीला में किसी उपयोगितावाद को स्थान नहीं

है। वहाँ तो उपयोगी-अनुपयोगी कुछ नहीं है। जो लीला करें, जो खेल खेलें वह उपयोगी और जो न खेलें वह सब अनुपयोगी है। वहाँ तो एक ही चीज है। इसलिये जहाँ पर खेल का, भगवान् का साम्राज्य है वहाँ केवल लीला की प्रधानता है, आदर्श की नहीं। और, लीला का अनुकरण कोई कर नहीं सकता तथा करना भी नहीं चाहिये। क्योंकि यह आदर्श नहीं है। यह लीलानन्द है। महान् लीला का एक परम मधुर स्रोत है। जहाँ समस्त कामनाओं-वासनाओं का जड़ समेत दग्ध हो जाना होता है तब इन चीजों का उद्भव होता है। फिर, यहाँ कुछ शेष नहीं रहता है इसलिये यह कामनावालों के लिये आदर्श नहीं है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण सखाओं के साथ खेल में कभी रूठ जाते हैं कभी उन्हें मनाते हैं, उनका मनुहार करते हैं उसी प्रकार निकुञ्जलीला में यह क्रिया अनवरत चलती है। एक बार श्रीकृष्ण के मन में आया कि आज मेरा तिरस्कार हो तब आनन्द आये। फिर, ऐसी लीला के लिये कुछ व्यवस्था हो गयी। श्रीराधिकाजी ने निकुञ्ज के द्वार पर सखियों को बैठा दिया और कह दिया—खबरदार! आज यदि श्यामसुन्दर यहाँ आ गया तो तुम लोगों की खबर ली जायेगी। उसे यहाँ आते ही भगा दो।

‘सखि ! श्याम न आने पाये।’

बस, पहरा बैठ गया। श्रीकृष्ण अन्दर निकुञ्ज में नहीं जा पाये। बहुत चिरौरी की, विनती की, खुशामद की तब कहीं मान भंग हुआ। यह क्या चीज है? यह क्या भगवान् की पूजा की पद्धति है? या आराधना है? अथवा, कोई आदर्श है? तथा किसी भले आदमी का कार्य है? फिर, क्या है? यह लीलानन्द है।

इसलिये दो चीजों को सामने रखना है। भगवान् की लीलाओं में यदि प्रवेश करें तो वहाँ पर मन को विशुद्ध करके जायँ। लीला को देखें, लीला को समझें और लीला को सुनें परन्तु

नकल न करें। नकल करनी है आदर्श की। भगवान् की लीलाओं की नकल नहीं करनी है। लीला कभी आदर्श नहीं देती है। आदर्श देते हैं वचन। भगवान् के वचनों का पालन करें। भगवान् जहाँ-जहाँ जो कुछ वचन कहते हैं उनका पालन करना चाहिये। लीला तो आनन्द के लिये है। जिनके नेत्रों में भगवान् ने शुभ दृष्टि दे दी जिन पर भगवान् ने कृपा कर दी, जिनके नेत्रों में प्रेम की दिव्य-दृष्टि आ गयी वे लीलाओं को देखेंगे, सुनेंगे, समझेंगे और आनन्द मनायेंगे। वे लीलारत होंगे। यह प्रत्येक के लिये नहीं है। लेकिन जहाँ आदर्श है वहाँ पर सारी चीजों को मानना है। और, आदर्श मानने की अधिक आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण को श्रीमद्भागवत में हम कई रूपों में देखते हैं। एक श्रीकृष्ण हैं जो सुबह तीन बजे उठते हैं और उठते ही ब्रह्म का ध्यान करते हैं, भगवान् का ध्यान करते हैं। ध्यान करके शौच, स्नानादि करते हैं फिर सन्ध्या करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं, तर्पण करते हैं। पिता-माता को प्रणाम करते हैं। प्रतिदिन गोदान करते हैं। इस प्रकार अपने समस्त कर्मों से निवृत्त होकर फिर राजसभा में जाकर राज्य-कार्य करते हैं। इस प्रकार का आदर्श भगवान् का है। एक भगवान् वे हैं जो अर्जुन का रथ हाँकते हैं। एक भगवान् वे हैं जो अत्यन्त दरिद्र, समाज में जिसका कोई मान नहीं है, जिस का शरीर जीर्ण-शीर्ण है, जिसकी हड्डियाँ-पसलियाँ बाहर निकली हुई हैं, जो मैला-कुचैला कपड़ा पहने हुए हैं, जिसके शरीर पर तमाम धूल पड़ी है, जिसके पैरों में बिवाइयाँ फटी हैं और काँटे चुभे हैं, इस प्रकार के दरिद्र को जब श्रीकृष्ण देखते हैं तो राजमार्ग पर, घर के अन्दर नहीं, उसे हृदय से लगा लेते हैं। यह भी श्रीकृष्ण का एक स्वरूप है। एक श्रीकृष्ण सबसे ऊपर सिंहासन पर बैठ जाते हैं। महर्षि व्यास से भी ऊपर, पितामह भीष्म, सारे ऋषियों और उग्रसेन तथा वसुदेव से भी

ऊपर और ललकार कर कहते हैं—मेरी पूजा करो । और, कोई भी इस पूजा में दखल देने वाला हो तो उठे । पाण्डव पूजा करते हैं। और कोई तो नहीं, परन्तु शिशुपाल बोला परन्तु शिशुपाल वहीं भगवान् के चरणों में समा गया । एक भगवान् ये हैं ।

भगवान् के अनेकों विचित्र रूप हैं । जहाँ जिस प्रकार का रूप वहाँ उसी प्रकार का भगवान् का खेल है । कहीं परम आदर्श है । गीता में भगवान् के दो रूप हैं। एक जगह भगवान् कहते हैं कि मैं स्वयं कर्म करता हूँ ।

‘नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।’ (गीता ३/२२)

उन्होंने कहा—मुझे कुछ प्राप्त करना नहीं है फिर भी मैं कर्म करता हूँ । क्यों करता हूँ ? इसलिये कि यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरता का करने वाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(गीता ३/२४)

और, एक जगह कहते हैं—‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’ (गीता १८/६६) यह क्या है? स्वयं तो कर्म करें और दूसरों को कहें कि सब धर्म छोड़ दो । दो प्रकार का मंच (stage) है। जिस मंच से त्याग की, सब प्रकार के आश्रयों के त्याग की बात है वह शरणागति का मंच है । और, जहाँ सभी कर्मों को विधिवत् करने की बात है वहाँ लोक-संग्रह का मंच है । जैसा मंच और जैसा स्वाँग वैसा नाच ।

‘जस नाचिये तस काछिये काछा’

जिस प्रकार का नाच होगा उसी प्रकार का स्वाँग होगा । जहाँ प्रेम का स्वाँग भगवान् का होता है—ब्रज का स्वाँग यह इसीलिये बड़ा मधुर होता है । इसमें आदर्श की भावना नहीं है । इसमें लीलानन्द

की भावना है । लीलानन्द की भावना में जब साधक भगवान् का प्राप्त कर लेता है तब वे लीलाविहारी भगवान् होते हैं । लीलाविहारी भगवान् दूसरे हैं । इसीलिये लीलाविहार के तारतम्य से भगवान् के स्वरूप में अन्तर की भक्तों ने कल्पना की है । वस्तुतः स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। परन्तु कहते हैं कि जितना खुलकर ये ब्रज में खेले उतना मथुरा में नहीं खेले । और, जितना मथुरा में खेले उतना द्वारिका में नहीं खेले। द्वारिका में भगवान् दरबार के वेष में हैं, बिल्कुल दरबारी हैं। मथुरा में दोनों हैं—मिले-जुले हैं । और, ब्रज में केवल ब्रजविहारी हैं—अरण्यविहारी हैं। वहाँ पर राजदरबारी नहीं हैं । इसीलिये कहा है कि यहाँ जब खुलकर पूर्णरूपेण खेले तो यहाँ पूर्णतम हैं और जहाँ मध्य के खेल खेले वहाँ पूर्णतर तथा जहाँ समझकर खेले वहाँ पूर्णतम हैं। अतएव यह पूर्णता, पूर्णतरता और पूर्णतमता कोई वास्तविक भेद नहीं है । यह लीला के भेद से इस प्रकार की भक्तों की कल्पना है जो वास्तविक है ।

भगवान् के साथ जिनको खेलना हो वे तो लीलाविहारी भगवान् का ध्यान करें और भगवान् के साथ जिन लोगों को सब प्रकार का सुन्दर समुचित कर्म करते हुए आसक्तिरहित होकर जगत् की सेवा करनी हो वे 'तोत्रवेत्रैकपाणये'—पार्थसारथि भगवान् का स्मरण करें । वहाँ भगवान् कहते हैं—देखो, मैं भी कर्म करता हूँ, इसलिये अर्जुन ! तुम भी कर्म करो । लड़ो परन्तु लड़ो मेरे लिये। युद्ध करो परन्तु करो मेरे लिये । और, जिनको भगवान् के त्यागी वेष का ध्यान करना है—भगवान् ने कई जगह तपस्या की है, वर्षों तक भगवान् ने तपस्या की है, वे तपोरूप भगवान् का ध्यान करें। भगवान् एक ही हैं परन्तु अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से भगवान् की उपासना, भगवान् का चिन्तन, भगवान् का आराधन और भगवान् का ध्यान होता है । इसलिये जिस प्रकार का आराधन अपने को इष्ट हो उसी

प्रकार का भगवान् का स्वरूप हो । स्वरूप अलग-अलग होने पर भी एक है । सुतीक्ष्णजी के चरित्र में देखिये। वे राजाराम का ध्यान करते हैं, वनवासी राम का नहीं । भगवान् शंकर को देखिये। उनके इष्ट बालक राम हैं । काग भुशुण्डिजी के इष्ट छोटे-से बालक राम हैं, इस प्रकार राम एक ही हैं । काग भुशुण्डिजी ने यह कभी नहीं चाहा कि वे दरबार में बैठे राम की उपासना करें । उन्होंने कहा कि इसीमें बहुत आनन्द है। वे जब-जब बालरूप लीला करते हैं तब-तब मैं कौआ होकर पीछे-पीछे दौड़ता हूँ । वे मुझे पूआ दिखाते हैं और जब वे पास आते हैं तो मैं भाग जाता हूँ । यह बड़ा लीला-आनन्द है । बस, यही चाहिये । हमारे रामाजी महाराज जो डा० राजेन्द्रबाबू के गुरु थे वे राम-विवाह के आगे की रामायण नहीं सुनते थे । वे दूल्हा राम से आगे रामचरितमानस नहीं सुनते थे और न ही पढ़ते थे । वे कहते थे कि जो राम वनवास में जायँ वह तो सहन नहीं होता है । राम का वनगमन उन्हें सहन नहीं होता था । यह उनका भाव था । उन्हें यदि कोई दूल्हा दिखायी देता तो वे उसमें राम-भावना करते । और, उसके पीछे दौड़ते तथा छत्र लेकर खड़े हो जाते, चँवर डुलाने लगते । रामाजी महाराज बहुत बड़े महात्मा थे । एक महात्माजी थे वे अपने को जानकीजी का भाई मानते थे । वे अयोध्या में पानी नहीं पीते थे । अयोध्या से बाहर निकलकर पानी पीते कि बहन के घर कैसे पानी पियें? अपना-अपना भाव है । प्रयागदासजी अपने को राम का साला कहते थे ।

नीमके नीचे खाट बिछी है खाटके नीचे करवा ।

प्रयागदास अलमस्ता सोये राम ललाके सरवा ॥

इस प्रकार के महात्मा हुए हैं । इसलिये उनके साथ भगवान् का वही बर्ताव होता है । अतएव, जिस प्रकार का हमारा भाव उसी प्रकार के हमारे भगवान् । इसमें उनको आनन्द आता है,

मजा आता है । भगवान् के साथ कोई सम्बन्ध जोड़कर आप भक्ति करें तो उसमें एक विशेष आनन्द आयेगा नहीं तो साधारण भक्ति तो है ही। और, कोई यह न समझ ले कि उसमें सदाचार का कोई विरोध है । जहाँ भगवान् की भक्ति है वहाँ जगत् से अनुरक्ति है नहीं। और, जहाँ जगत् की अनुरक्ति नहीं है वहाँ सदाचार कहाँ से आयेगा । यह कदाचार, अनाचार, भ्रष्टाचार और व्यभिचार वहीं आते हैं जहाँ हृदय में भगवान् नहीं हैं । चाहे वह अपने को कुछ भी माने । और, जब हृदय में भगवान् आ गये उसके बाद ये अनाचार, कदाचार, भ्रष्टाचार, अत्याचार और व्यभिचार आ ही नहीं सकते। वहाँ तो केवल प्रेमाचार होगा । भगवदाचार होगा, शुद्धाचार होगा। वहाँ और कोई आचार नहीं आयेगा । वहाँ अचार-खटाई जैसी सड़ी चीज नहीं आयेगी । वहाँ तो बिल्कुल निखालिस माधुर्य आयेगा—विशुद्ध माधुर्य । विशुद्ध माधुर्य का अर्थ है काम-क्रोधादि जहर से रहित परम पवित्र प्रेम।

जिस प्रेम में, जिस भक्ति में, जिस ज्ञान में और जिस कर्म में भगवान् नहीं हैं और जिसमें काम का मिश्रण है वह कभी मधुर नहीं होगा । मधुरता की यह परिभाषा याद रखें । जिस माधुर्य में, जिस भगवत्प्रेम में काम का विष बिल्कुल नहीं है वह मधुर है। और, जहाँ काम का विष मिश्रित है वहाँ उसका नाम हम कितना ही मधुर रखें, उसका नाम हम कितना भी प्रेम रखें परन्तु वह प्रेम नहीं काम है । यह काम और प्रेम का महान् अन्तर है । कोई चाहते हैं कि हम प्रेम करें और मुझसे वे प्रेम करें और हम उनसे कुछ सुख चाहते हैं तो नाम चाहे प्रेम हो परन्तु वह काम हो गया। और, हम उनको सुख देना चाहते हैं—‘हमारे मन में कामना है कि वे सुखी रहें और हम उनसे कुछ नहीं चाहते हैं’—भले ही इसका नाम काम हो परन्तु यह प्रेम है ।

‘प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।’ (गौतमीय तन्त्र)

अर्थात् गोपियों के प्रेम का नाम काम है । काम क्यों है ? गोपी की एक ही कामना है कि श्रीकृष्ण सुखी हों । बस, इसी काम से गोपियों का हृदय काममय है । उनका जीवन काममय है, कामशून्य नहीं है । परन्तु, वह काम क्या है ? वह काम एक ही है—श्रीकृष्ण भगवान्—हमारे प्रेमास्पद नित्य सुखी रहें । चाहे हम किसी भी अवस्था में रहें । यह जो प्रेमास्पद के सुख का काम है यही गोपी-जीवन का काम है। इस काम से गोपी-जीवन काममय है यह काममयता ही वास्तविक माधुर्य है । और, यही उच्च से उच्च उज्ज्वल प्रेम है । क्योंकि इसमें अपने सुख की चाह नहीं है । यह आत्मसुख नहीं है ।

आप जगत् में देख लीजिये—भाइयों में, पड़ोसियों में, गाँव में जहाँ अपने सुख की चाह न करके उनके सुख की कामना करेंगे तो प्रेम बढ़ जायेगा, सुख बढ़ जायेगा। आपस में एक दूसरे के प्रति प्यार आ जायेगा । और, जहाँ हम यह चाहेंगे कि हम उन से लेते ही रहें, हम छीनते ही रहें, हमें मिलता रहे और इनको न मिले वह चाहे अमृत ही हो तब क्या होगा ? द्वेष होगा, संघर्ष होगा तथा लड़ाई होगी । भरत और राम नहीं लड़े लेकिन कौरव और पाण्डव लड़े, लक्ष्मणजी को एक बार तैश आ गया था । वे श्रीराम से बोले—महाराज ! मुझे आज्ञा दीजिये । पिताजी भी बड़े स्त्रैण हैं और यह भरत भी नालायक है । अगर श्रीराम हाँ कह दिये होते तो आज यह इतिहास नहीं रहता । श्रीराम-भरत के पवित्र इतिहास को पढ़कर आज भी हम सब पवित्र होते हैं कि कितना त्याग है । वह कहाँ रहता ? परन्तु श्रीराम ने कहा—नहीं-नहीं, पिताजी को ऐसा मत कहना । कैकेयी माता को दोष मत देना । और, भरत में तो कोई दोष है ही नहीं। कल्पना करना भी पाप है । पिताजी भरत को राज्य दे गये हैं, भरत ही राज्य करेंगे । इस से बढ़कर मेरे लिये सुख क्या होगा ? और भरत कहते हैं—‘मैं

इतना बड़ा पापी हूँ कि कहीं मुझे राज्य देने का नाम ले लांगे तो पृथ्वी रसातल में चली जायेगी । मैं नराधम हूँ । राज्य का अनधिकारी हूँ ।' अब बताइये ? दोनों में प्रेम रहा तो किस बात पर रहा ? त्याग पर रहा ।

प्रेम में सुख-कामना है परन्तु यह सुख-कामना अपने लिये नहीं है । यह जो असली प्रेम है उसे इस भाषा में कहें तो कहेंगे कि यह काममय है । परन्तु वह काम क्या है ? अपना सुख नहीं । वह काम है—प्रेमास्पद का सुख । जिस प्रकार देशभक्त देशहितकामी होता है, गुरुभक्त गुरु-हितकामी होता है और पितृभक्त पितृ-सुखकामी होता है । इसमें कोई दोष की बात नहीं है । कुछ लोग कहेंगे कि यह 'कामना' छोड़ दो । छोड़ देंगे । परन्तु, जहाँ वेद कहते हैं—'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' और 'आचार्यदेवो भव' वहाँ यह कामना मन में रहेगी ही कि हमारा प्रत्येक कार्य हमारे पिता को सुख पहुंचाये, हमारी प्रत्येक क्रिया हमारी माता का हित करने वाली हो, हमारा प्रत्येक मानस संकल्प हमारे गुरु को सुख पहुँचाने वाला हो । फिर, यह कामना क्या 'कामना' है ? यह कामना क्या काम है ? यही कामना तो असली प्रेम है । यही कामना असली भक्ति है और यही कामना सच्चा समर्पण है । इस का नाम चाहे काम हो परन्तु यह प्रेम है । इस प्रेम की प्राप्ति का सरल साधन है—शरणागति ।

शरणागति के साधन में शरण्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य में शरण्यता का भाव न होना, भगवान् की शरण्यता में पूरा विश्वास और शरण्य से किसी भी प्रकार की कोई भी चाह न रखना—इन बातों का साधक विशेष ध्यान रखते हुए उसकी इच्छा या आज्ञानुसार जीवन बनाये तो आगे चलकर ये भाव उसमें स्वाभाविक हो जायेंगे । और, ये भाव जितना-जितना बढ़े, साधक उतना ही भगवान् की शरण में अग्रसर हो रहा है, ऐसा समझना चाहिये ।

